अयोध्या का इक्ष्वाकु वंश और तीर्थंकर परम्परा की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

शैलेंद्र जैन

भारतीय संस्कृति में इक्ष्वाकु परम्परा अत्यन्त प्राचीन तथा प्रख्यात रही है। यद्यपि वैदिक वाङ्मय में इक्ष्वाकु वंश की चर्चा अत्यल्प है तथापि वैदिक साहित्य के उल्लेखों के आधार से इतिहासकार यह स्वीकार करते है कि इक्ष्वाकु जन एवं इनका वंश एक प्रतापी वंश था। ऋग्वेद (10/60/4) के अनुसार (यस्येक्ष्वाकुरूप व्रते रेवान्मरारूयेधते दिवीव पंच कृष्टयः) इक्ष्वाकु राजाओं की संरक्षता में मनुष्यों के पांच कुलों के लोग सुख एवं समृद्धि प्राप्त कर रहे थे। अर्थवेद इन्हें प्राग्वैदिक (वेद पूर्व) मानता है (यंत्वा वेद पूर्व इक्ष्वाको यं वात्वा कुष्ठ काभ्य 19/39/9)। रामायण में इक्ष्वाकुओं को शौर्यवान एवं धर्मपरायण बताया है। ब्रह्माण्ड पुराण में इक्ष्वाकु परम्परा का इतिहास वर्णित है जिसमें स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि इक्ष्वाकुवंशी महादेव ऋषभदेव ने उत्तमक्षमादि दशलक्षणमय धर्म का प्रवर्तन एवं उपदेश केवलज्ञान प्राप्ति के लिये दिया था (इह वि इक्ष्वाकु-कुलो;वेन नाभिसुतेन भरूदेव्या नन्दनेन महादेवन ऋषभेन ऋषभेण धर्म दस प्रकारो स्वयमेवाचीर्णः केवलज्ञानलाभाच्च प्रवर्तितः)। मनु स्मृति में धर्म के दसलक्षण बताये है इसी का समर्थन तत्वार्थसूत्र भी करता है। हरिवंश पुराण के अनुसार सर्वप्रथम इक्ष्वाकु वंश चला उसके बाद सूर्य, चन्द्र, कुरू, उग्र आदि वंश प्रचलित हुए (इक्ष्वाकुः प्रथम प्रधानमुद्गादादित्य वंशस्ततः। तस्मादेव च सोमवंश इति यस्त्वन्ये कुरूप्रादयः) पर्व 13, श्लोक 32)। आदि पुराण में ऋषभदेव को इसी इक्ष्वाकुवंश का और जगत में श्रेष्ठ एवं ज्येष्ठ बताया गया (वृषभो जगच्छेष्ठः पुरूः पुरूगुणोदयैः। नाभेयो नाभि संभूतिरिक्ष्वाकुकुलनन्दनः)। डॉ ए0 चक्रवर्ती ने अपनी पुस्तक (समयसार का दार्शनिक चिन्तन पृष्ठ-28) में इन इक्ष्वाकुओं के विषय में लिखा है कि क्षत्रियों का यह इक्ष्वाकु वंश अयोध्या से संबद्ध रहा, जो कोशल देश में थी। पुराणों में, तथा जैन और बौद्ध वाङ्मय में इक्ष्वाकु राजाओं के स्तुति-गान में एक दूसरे से स्पर्धा दिखाई देती

है। दो महाकाव्यों में एक का नायक इक्ष्वाकु है। उत्तर वैदिक काल को इक्ष्वाकु नायको ने इतना प्रभावित किया है, कि पुराण काल में इक्ष्वाकु वंश के कुछ नायकों को विष्णु का अवतार भी बना दिया गया। प्रसिद्ध इतिहासकार डॉ मुनीश चन्द्र जोशी ने अपने लेख (ऋषभ सौरभ 92 पृ0 64) पर लिखा है कि भारतीय परम्पराओं के अनुसार ऋषभनाथ एक प्रारम्भिक राजवंश में उदभूत युगपुरूष थे और उनका संबंध अयोध्या नामक नगर से था। विष्णु पुराण यह स्पष्ट कहता है कि राज्य त्याग कर महात्मा ऋषभ जब अपने पुत्र भरत का राज्याभिषेक कर वन को गये थे तो हिमवर्ष नामक देश का नाम भारतवर्ष पड़ गया (विष्णु पुराण-1.2.32)। यह सत्य है कि ऐतिहासिक या पुरातात्विक प्रमाणों के अनुसार चौबीस तीर्थकरों की प्रतिमाएं केवल ऐतिहासिक युग से ही मिलने लगती है, किन्तु जैन परम्परा में उल्लेखित जिन परम्परा की प्राचीन अवधारणा को पूर्णतः नकारा नहीं जा सकता। इसमें इतिहास की कडियां छिपी है, जिनका संबंध आदि श्रमण परम्परा से ज्ञात होता है। स्मरण रहे कि जैनों की पौराणिक परम्परा भी भगवान ऋषभ देव को संक्रांति काल का नायक मानती है, जब नैसर्गिक जीवन-यापन की प्रणाली समाप्त हो रही थी, भौगोलिक और प्राकृतिक परिवर्तन हो रहे थे और जीवन निर्वाह की एक नई पद्धति की आवश्यकता थी। ब्राह्मण पुराणों के मतानुसार ऋषभ अत्यन्त प्राचीनकाल में पैदा हुए थे और वे स्वयंभू मनु की केवल 5वीं पीढ़ी में थे। इन दोनों परम्पराओं का सीधा अर्थ यह हुआ कि ऋषभ किसी अत्यन्त प्राचीनकाल से संबंधित थे जब संभवतः भारत में मानव संस्कृति की वर्तमान कड़ी का आदि रूप अस्तित्व में आया था। इसी दृष्टि से हमें वैदिक साहित्य में कुछ अपरोक्ष

किन्तु सार्थक साक्ष्य मिलते हैं कि जिनसे जैन परम्पराओं की किसी न किसी रूप में पृष्टि हो जाती है। वैसे तो ऋषभ व वृषभ का शब्दिक अर्थ बैल या ऋषभ है, जिसे भारतीय चिन्तन परम्परा में प्राचीन काल से ही धर्म का प्रतीक माना गया है।

भारतीय संस्कृति धर्म प्रधान संस्कृति है। भारतीय परम्परा में जीवन का ध्येय धर्म, काम, मोक्ष रूप पुरूषार्थ चतुष्टय ही माना गया है। भारतीय दर्शनों में चर्वाक को छोड़कर शेष मतों के अनुसार जीवन का अंतिम ध्येय मोक्ष है और धर्म को इस परम ध्येय को प्राप्त करने का साधन स्वीकार किया गया है। धर्म की इस श्रेष्ठता के कारण ही उसे चार पुरूषार्थों में प्रथम स्थान दिया गया है और मोक्ष को परम धर्म (पुरूषार्थ) सूचित करते हुए उसे अंत में रखा गया है। अर्थ और कर्म को साधन साध्य के रूप में दोनों पुरूषार्थों के मध्य रखा गया। यद्यपि भारतीय विचारकों ने जीवन में भौतिकता का पूर्णतः तिरस्कार नहीं किया, किन्तु अध्यात्मिकता को आदर्श तथा अनुकरणीय रूप में स्वीकार किया। इसीलिए भारतीय धर्म-दर्शनों ने मनुष्य जीवन का मूल उद्देश्य मोक्ष, निर्वाण या जन्म-मृत्यु के चक्र पर विजय प्राप्त करना ही स्वीकार किया है। धर्म, अर्थ काम और मोक्ष को पुरुषार्थ मानने के पीछे भारतीय विचारकों की व्यापक दृष्टि है। भारतीय परम्परा जीवन और जगत की हर समस्या का समाधान धर्म के दायरे में ढूंढने का प्रयास करती है। जन्म से मृत्यु तक के सभी कार्य, कल्याण-अकल्याण के सभी पथ धर्म के अन्तर्गत आते हैं। इसी दृष्टि के चलते युद्ध भी धर्मयुद्ध और कुरुक्षेत्र भी धर्म क्षेत्र कहा गया है। धर्म भारत की आत्मा का संगीत है। इसीलिये भारतीय जनता इतिहास के आरम्भ से ही धर्म का अनुशासन मानती है।

भारत की पावन धरा पर समय-समय पर अनेक ऋषि-मुनियों ने धर्म-साधना द्वारा स्वयं के एवं मानवता के कल्याण के लिए जगत का मार्गदर्शन किया है। इस परम्परा में तीर्थंकर ऋषभदेव का स्थान सर्वोपरि तथा अद्वितीय है। उनके जीवन और कर्तव्यों के सभी पक्ष अत्यन्त महत्वपूर्ण है। भगवान ऋषभदेव का उल्लेख जैन, बौद्ध एवं वैदिक तीनों ही परम्पराओं में सम्मान के साथ हुआ है। जैन सम्प्रदाय में उनको प्रथम तीर्थंकर स्वीकार किया गया है और वे आदिनाथ के रूप में समार्चित होते आ रहे है। भगवान ऋषभदेव आत्मविद्या के प्रथम प्रवर्तक है। ये प्रथम राजा, प्रथम अर्हन्त, प्रथम केवली प्रथम तीर्थंकर है। वे प्रथम थे इसलिए किसी सम्प्रदाय की सीमा में बंधे हुए नहीं थे। उनकी मान्यता बहुत व्यापक थी। उनकी तपोभूमि अष्टापद या हिमालय थी। ऋषभ और शिव-एक व्यक्ति के दो रूप, दो परम्पराओं में प्रतिष्ठित हो गए। सहस्त्रनाम स्तोत्र में ऋषभदेव की 1008 विशेषताओं के साथ उनके 1008 नामों की चर्चा है, जिनमें ऋषभ, वृषभ, आदियोगी, आदिजिन, आदिनाथ, आदिदेव, आदिब्रम्हा, रूद्र, अरहन्त, केशी, पशुपति, प्रजापति, केवली, परमेष्ठी, हिरण्यगर्भ आदि नाम विशेष उल्लेखनीय है। इस प्रकार भगवान ऋषभदेव भारतीय इतिहास एवं संस्कृति के शिखर पुरुष है। उनके जीवन सम्बन्धी अनुशीलन से जो तथ्य अभी तक प्रकाश में आये हैं वे न केवल उन्हें भारतीय संस्कृति के उन्नायक के रूप में बल्कि विश्व मानव विकास की प्रथम कड़ी के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं। जैन परम्परानुसार ऋषभदेव जब गर्भ में थे तब हिरण्य की वृष्टि हुई थी, इसलिए उन्हें हिरण्यगर्भ कहा गया। इस समय अयोध्या हिरण्यमय कोश से आवृत हो गयी थी। अर्थवेद में भी हिरण्यमय कोश से आवृत देवताओं की नगरी अयोध्या की महिमा का वर्णन है। रामायण के अनुसार-बहुत वर्षो से जनशून्य (शूनी पड़ी) रमणीक अयोध्या नगरी राजा ऋषभ के समय बसी। वैदिक परम्परा में अयोध्या को सात मोक्षदायिनी पुरियों में एक माना गया है। जैन परम्परा में भी अयोध्या को आदि तीर्थ कहा गया है। जिसमें इक्ष्वाकु वंशी ऋषभदेव सहित पांच तीर्थकरों का जन्म स्थान माना गया है।

भगवान ऋषभदेव का व्यक्तित्व सभी प्रकार की परिपूर्णता का वह सुमेरू है जिससे एक ओर वैदिक ज्ञान विज्ञान की भागीरथी प्रवाहमान होती है तो उसी से दूसरी और श्रमण परम्परा की सरयू का उद्गम होता है। ये दोनों परम्परायें एक दूसरे की पूरक है। वे दोनो भारतीय संस्कृति के दो दिव्य नेत्रों के समान है। इन दोनों दृष्टियों की दुग्धकुल्या में स्नान किये बिना भारतीय संस्कृति के आत्म तत्व की सम्यक अवगति नहीं हो सकती। भगवान ऋषभदेव भारतीय धर्म और संस्कृति के मूर्तिमान विग्रह है। जहां श्रमण संस्कृति तप त्याग, ध्यान एवं साधना प्रधान रही है, वही ब्राहम्ण संस्कृति यज्ञ-याग मूलक एवं कर्मकाण्डात्मक रही है। हम श्रमण संस्कृति को सामाजिक एवं प्रवृत्तिमूलक कह सकते हैं। इन दोनों संस्कृतियों के मूल आधार तो मानव-प्रकृति में निहित वासना और विवेक अथवा भोग और योग (संयम) के तत्व ही है। सिन्धु घाटी की सभ्यता में योग के प्रमाण मिले है। राम प्रसाद चन्दा जिन्होंने सिंधुघाटी की खुदाई का निर्देशन भी किया है, लिखते है कि यहाँ से प्राप्त मुद्राओं के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि सिंधुघाटी सभ्यता जैन सभ्यता थी। प्राप्त मुद्राओं पर समकालीन देवताओं के यौगिक मुद्रा का अंकन प्राप्त होता है। यहाँ से प्राप्त मुद्राओं में मुख्यतः तीन विशेषताएं मिलती है कायोत्सर्ग मुद्रा, ध्यानावस्था और नग्नता। कायोत्सर्ग मुद्रा जैनों की अपनी लाक्षणिका है। वहीं उनका लांछन (वृषभ) बैल भी अपने समानुपातिक सौन्दर्य में यत्र-तत्र दिखाई देता है। पी0 आर0 देशमुख ने भी स्पष्ट शब्दों में कहा है कि जैनों के पहले तीर्थंकर सिन्धु सभ्यता से ही थे। इस सभ्यता के लोगों के देव नग्न होते थे। जैन लोगों ने उस सभ्यता/संस्कृति को बनाए रखा और नग्न तीर्थंकरों की पूजा की। ऐसे अनेक विद्वान हैं जो जैन धर्म को प्रागैतिहासिक और प्राग्वैदिक मानते हैं। सिन्धु घाटी की सभ्यता में मिली योगमूर्ति के अतिरिक्त वैदिक ग्रन्थों में ऋषभ और अरिष्टनेमि जैसे तीर्थंकरों के नाम तथा व्रात्य व मुनि परम्परा का उल्लेख इसका मुख्य आधार है। ऋग्वेद में अर्हन संज्ञा भी प्राप्त होती है। अर्हन श्रमण संस्कृति का प्रिय शब्द है। श्रमण अपने वीतरागत्माओं को अर्हन कहते है। ऋग्वेद में इनको अहिंसक और तपस्वी भी कहा गया है। ऋग्वेद में ऋषभ (वृषभ) का नामोल्लेख भी कई स्थानों पर मिलता है। अथर्ववेद में व्रात्यों की भरपूर प्रशंसा की गयी है। उपर्युक्त साक्ष्यों के आधार पर दृढतापूर्वक यह कहने में कोई संकोच नहीं है कि आदितीर्थकर ऋषभदेव का आविर्भाव ऋग्वेद के संगायन से पूर्व अवश्य हो चुका था। सिन्धुघाटी की सभ्यता का गहन अध्ययन एवं विश्लेषण कर

आचार्य श्री विद्यानन्द जी ने लिखा है कि भारतीय इतिहास एवं संस्कृति और साहित्य ने इस तथ्य को पुष्ट किया है कि सिन्धुघाटी की सभ्यता जैन थी। जैन धर्म प्राग्वैदिक है और भारत में योग परम्परा का प्रवर्तक है। जैनों के प्रथम तीर्थंकर ऋषभनाथ अध्यात्म (आत्मविद्या) के आदि प्रवर्तक है। यह तथ्य मोहनजोदडो की सीलो से प्रमाणित होता है। भागवतपुराण में मिलने वाली तीर्थकर -ऋषभदेव की कथा भी जैनधर्म की प्राचीनता को व्यक्त करती है। लिंगपुराण, ब्रम्हाण्डपुराण, शिवपुराण एवं विष्णु पुराण में चक्रवर्ती भरत (जिनके नाम से अपने देश का नाम भारत पड़ा) के पिता के रूप में भी ऋषभदेव का उल्लेख मिलता है। इसी प्रकार ताण्ड्य ब्राम्हण व शतपथ ब्राम्हण में ऋषभ को पशुपति कहा गया है। महाभारत में भी ऋषभदेव की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया गया है। भागवत पुराण में उनको विष्णु का आठवां अवतार माना गया है। लिंगपुराण में भी ऋषभदेव को सर्वश्रेष्ठ राजा सभी क्षत्रियों के द्वारा सुपूजित और परम तपस्वी स्वीकार किया गया है। इस प्रकार वैदिक साहित्य में प्राप्त इन सन्दर्भों से यह स्पष्ट है कि जैनेतर अनुश्रुतियां भगवान ऋषभदेव को एक प्रमुख धर्म प्रर्वतक के रूप में स्वीकार करती है तथा इन उल्लेखों के आधार पर ऋषभदेव की ऐतिहासिकता भी सिद्ध होती ही है। आधुनिक अध्येताओं ने ऋषभ को मानव सभ्यता का आदि प्रस्तोता माना है। वे उनको असि, मषि, कृषि का प्रवर्तक मानते हैं। भगवान ऋषभदेव प्रागैतिहासिक और ऐतिहासिक काल के सन्धिसूत्र प्रतीत होते हैं। देश और विदेशी इतिहासविदों एवं पुरातत्वविदों ने उनकी सत्ता की प्रामाणिकता को स्वीकार किया है। हर्नले जयकोवी, जार्ज व्यूहलर, प्रो. हॉकिंस व रानाडे, स्मिथ आदि विदेशी विद्वानों ने जैन धर्म का ऐतिहासिक अध्ययन किया है और उन्होंने ऋषभदेव के ऐतिहासिक अस्तित्व को माना है। भारत के द्वितीय राष्ट्रपति एवं महान दार्शनिक डॉ. राधाकृष्णन ने जयकोवी के इस कथन को स्वीकार करते हुए लिखा है- जैन परम्परा ऋषभदेव से अपने धर्म की उत्पत्ति होने का कथन करती है। इस बात के प्रमाण पाये जाते हैं, कि ईसवी पूर्व प्रथम शताब्दी में प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव की पूजा होती थी। विचारणीय तथ्य यह है कि जब वैदिक एवं श्रमण दोनों ही संस्कृतियों की पृष्ठभूमि में एक सशक्त धार्मिक एवं सांस्कृतिक चेतना विद्यमान थी तो इनका पृथकत्व कैसे हुआ? और सामानान्तर किन्तु परस्पर आदान-प्रदान के साथ इनका विकास कैसे हुआ? वास्तविकता तो यह है कि दोनों परम्पराओं का पृथकत्व केवल प्रवृत्तिमार्गी तथा केवल निवृत्तिमार्गी दृष्टि से नहीं किया जा सकता है। दोनों परम्पराओं में इन तत्वों की विद्यमानता थी क्योंकि आर्यत्व की जीवन दृष्टि के साथ इनका विकास हुआ था। यहां आर्य जीवन दृष्टि इक्ष्वाकु परम्परा की देन है क्योंकि इक्ष्वाकुओं का सम्बोधन ही आर्य था। इक्ष्वाकुओं के इतिवृत को निरूपित करने वाले वाल्मीकि रामायण महाभारत एवं संस्कृत साहित्य में इक्ष्वाकु आर्य अभिमान से ही अभिहित है। यहां आर्य शब्दार्थिकी पर अलग-अलग अध्ययन पद्धतियों के आधार पर विचार और विवाद हो सकता है। किन्तु इतना स्पष्ट है कि आर्य शब्द श्रेष्ठता का बोधक है। आर्य शब्द के साथ श्रेष्ठता का यह भाव किन परिस्थितियों में जुडा इस पर विद्वानों में मतैक्य नहीं है। इसके बावजूद यह तो स्पष्ट ही है कि मनुष्य के भीतर जो ईश्वरत्व है वही आर्यत्व है। ईश्वरत्व की वृद्धि होने पर ही मनुष्य आर्य बनता है जैसा कि भारतीय परम्परा मानती है यथार्थ तो यह है कि समूचे वैदिक वाड्मय शब्दकोशों आदि में आर्य शब्द विचार एवं आचार्य की श्रेष्ठता का बोधक है आर्य संबोधन एवं आर्यत्व की जीवन शैली इक्ष्वाकुओं के साथ सम्बद्ध रही है। इस आर्यत्व में सत्य, धर्म, दिव्य, पवित्र, पूर्णतेज, यशस्विता आदि वे सभी गुण आते है जो धर्म के लक्षणों में परिगणित है। सत्य दृढ़ प्रतिज्ञा वचन का पालन धैर्य बुद्धि जीवलोक की रक्षा प्रजावत्सिलता नैष्ठिकता आदि विशिष्ट आर्यत्व के गुणों के लिए इक्ष्वाकु प्रसिद्ध है। भास ने प्रतिनाटकम में देवकुलिक के मुंह से कहलाया है कि आर्येति इक्ष्वाकुकुलालापरु खल्वयम् अर्थात निश्चित रूप से आर्य इक्ष्वाकु कुलक्रम है। जैन परम्परा ऋषभ को ही इक्ष्वाकु स्वीकार करती है। पौराणिक परम्परा में जो मनु इक्ष्वाकु है, वही जैन परम्परा में चौदहवें कुलकर नाभिराय के पुत्र ऋषभ (इक्ष्वाकु) माने गये। इसीलिए जैनों की इक्ष्वाकु परम्परा वैदिक एवं पौराणिक परम्परा के इक्ष्वाकु से अधिक सशक्त एवं श्रद्धेय रही है। जैन शास्त्रों के अनुसार ऋषभदेव अर्थात इक्ष्वाकु जैन एवं जैनेतर दोनों ही परम्पराओं में उपास्य एवं मान्य है। जैन परम्परा में नाभिराय के साथ ऋषभ (इक्ष्वाकु) और भरत को भी (वृष्णो भरतेश्य तीर्थचक्रभृतौ मनुः) मनु कहा गया है। जैनो के प्राचीनतम आगम साहित्य जैसे-स्थानांग ज्ञाताधर्मकथा कल्पसूत्र आवश्यकनिर्युक्ति कल्पकसूत्रवृत्ति एवं निर्युक्ति वृहतकल्प-भाष्य? आदि में इक्खाग (इक्ष्वाकु) इक्खागभूमि अयोज्झाप (इक्ष्वाकुभूमि अयोध्या) इक्खागकुल (इक्ष्वाकुकुल) इक्खागवंस (इक्ष्वाकुवंश) की व्यापक चर्चाएं हैं। इसी प्रसंग में ऋषभ (उसभ) द्वारा शक्क (इन्द्र) से इक्षु (गन्ना) प्राप्त करने के कारण वंश के इक्ष्वाकु नामकरण की भी चर्चा है। इन विवरणों के आधार पर जैनों की इक्ष्वांकु परम्परा का ज्ञान होता है। इतना ही नहीं प्रथम पांच तीर्थकरों ऋषभनाथ, अजितनाथ, सम्भवनाथ, अभिनन्दननाथ, सुमतिनाथ ग्यारहवे श्रेयांसनाथ तथा चौदहवें अनन्तनाथ का जन्म इक्ष्वाकुकुल में ही बताया गया है। वैशाली के लिच्छविकुल में उत्पन्न चौबीसवें तीर्थकर का भी संबंध इक्ष्वाकुओं से था क्योंकि वज्जि संघ में सम्मिलित आठ गणतंत्रों अटठकुलिक (वज्जि, लिच्छवि, विदेह ज्ञातृक, उग्र, भोग, कौरव तथा ऐक्ष्वाकु) में वैशाली के ऐक्ष्वाकु भी परिगणित है। इसीलिए जैन तीर्थकरों की राजवंशीय परम्परा भी इक्ष्वाकुओं से ही सम्बद्ध रही है। इस परम्परा का उत्स कोसल ही रहा है। बौद्ध साहित्य में भी शाक्यों के पूर्वजों, शुधोधन और बुद्ध को इक्ष्वाकु कुल का ही स्वीकार किया गया है। इसी राजवंशीय परम्परा में चन्द्रगुप्त मौर्य एवं खारवेल का भी नाम उल्लेखनीय है। वैदिक एवं श्रमण दोनों की ही इक्ष्वाकु परम्पराएं (कोसल) अयोध्या से संबद्ध रही है। दोनों की धार्मिक प्रक्रियाओं को यदि पृथक कर दें तो ज्ञात होता है कि इक्ष्वाकु परम्परा दोनों परम्पराओं की धुरी है। इक्ष्वाकु की प्रशस्त परम्परा ने जैन तीर्थंकरों को आत्मसात किया। जैन साहित्य तथा उसमें विवेचित तीर्थंकरों का इतिहास इक्ष्वाकु परम्परा के संबंध में रोचक इतिवृत प्रस्तुत करता है। सबसे महत्वपूर्ण तथ्य तो यह है कि प्रथम जैन तीर्थकर आदिनाथ अथवा ऋषभनाथ के साथ अयोध्या एवं इक्ष्वाकु अभिद्यान का घनिष्ठ सम्बन्ध था। जैन धर्म में यह मान्यता है कि वाल्मीकि रामायण के राम का जन्म इसी इक्ष्वाकु कुल में हुआ था, जिस वंश का संबंध भगवान ऋषभदेव के साथ था और जिस वंश के प्रवर्तन का मूल कारण भगवान ऋषभदेव के जीवन-

सम्बन्धी दो घटनाएं रही थी-प्रथम तो यह कि कर्मयुग के प्रवर्तन के प्रारम्भ काल में ऋषभदेव ने तत्कालीन जनता को स्वयं उगे हुए इक्षुदण्ड (गन्ना, ईख) को निचोड़कर उससे रस निकालना और अपनी क्षुधा-पिपासा शान्त करना सिखाया था। दूसरे यह कि साढ़े तेरह माह पश्चात् भगवान ऋषभदेव को सर्वप्रथम इक्षुरस का आहार मिला था जनता उन्हें श्रद्धावश इक्ष्वाकु कहने लगी और साथ ही उनके वंश को इक्ष्वाकुवंश। अयोध्या पर इसी इक्ष्वाकुवंश की 112 पीढ़ीयों ने शासन किया। इक्ष्वाकुवंशी ही पुरूवंश एवं सूर्यवंश कहलाया एवं भगवान राम भी इसी इक्ष्वाकुवंश में जन्में। राष्ट्रीय संग्रहालय दिल्ली के महानिदेशक डॉ0 रमेश चन्द्र शर्मा लिखते है कि हिन्दू धर्म ग्रन्थों में ऋषभनाथ को मानव जाति के आरम्भ कर्ता मनु और सतरूपा से पांचवी पीढ़ी में माना जाता है। तदनुसार वह प्रथम सतयुग के अन्त में उत्पन्न हुए। तब से अब तक अट्ठाईस सतयुग हो चुके हैं। इस प्रकार जैन व हिन्दू दोनों का विश्वास है कि ऋषभनाथ जी का प्रादुर्भाव कल्पनातीत काल की गाथा है। जैन परम्परा में ऋषभ के पूर्व चौदह मनु हुए जिन्होंने मानव जाति के कल्याण के निमित्त विभिन्न युगों में मार्ग प्रशस्त किया। चौदहवें मनु नाभिराय ने बच्चों की नाल कटवाने की प्रथा चलाई जिसके फलस्वरूप उनका नाम नाभि पड़ा। इन्हीं की पत्नी मरूदेवी से ऋषभनाथ का जन्म हुआ। ऋषभदेव ने नगर नियोजन, लौकिक व व्यावहारिक ज्ञान की शिक्षा दी तथा कृषि कर्म की स्थापना की। वास्तव में उन्होंने जिन प्रमुख कार्यों का शुभारम्भ किया उन्हें षट्कर्म कहते है, वे हैं-कृषि, असि, मसि, शिल्प, वाणिज्य और विद्या। प्रजा पालन के इन महत्वपूर्ण कार्यों की स्थापना के कारण ऋषभदेव को प्रजापति या ब्रह्मा भी कहते है। इनकी पत्नी सुनन्दा और नन्दा से सौ पुत्र उत्पन्न हुए जिनमें ज्येष्ठ भरत थे। राज सभा में नृत्यांगना नीलांजना की मृत्यु से उन्हें वैराग्य हुआ और तपस्या के लिए वनवास स्वीकार कर उन्हें कैवल्य ज्ञान लाभ हुआ।

भगवान ऋषभदेव के निर्वाणोपलक्ष में भरत चक्रवर्ती ने अयोध्या में एक उत्तुंग सिंह-निषद्या निर्माण कराई थी तथा नगर के चारों महाद्वारों पर 24 तीर्थंकरों की निज-निज शरीर प्रमाण प्रतिमाएं स्थापित की तथा स्तूप एवं मूर्ति कला का विकास भी इस नगर में सर्वप्रथम विकसित हुआ। ''भरत के उपरान्त सुभौम, सगर, मघवा आदि कई अन्य चक्रवर्ती सम्राट भी अयोध्या में हुए और महाराज रामचन्द्र एवं लक्ष्मण जैसे शलाकापुरूषों को जन्म देने का श्रेय भी अयोध्या को ही है। रामचन्द्र दीक्षा लेने के बाद पद्ममुनि के नाम से प्रसिद्ध हुए और अर्हत् परमेश्वर बनकर मोक्ष गये। महारानी सीता की गणना जैन परम्परा की सोलह आदर्श महासतियों में हैं। यज्ञों में पशुबलि के प्रश्न को लेकर नारद और पर्वत के बीच राजा वसु की राजसभा में होने वाला विवाद भी एक अनुश्रुति के अनुसार अयोध्या में ही हुआ था। राजनर्तकी बुद्धिषेणा और प्रींतंकर एवं विचित्रमति नामक मुनियों की कथा का तथा अन्य अनेक जैन पुराण-कथाओं का घटनास्थल यह नगर रहा। अन्तिम तीर्थंकर महावीर अपने एक पूर्व भव में, एवं तीर्थंकर महावीर के रूप में भी वह अयोध्या पधारे, यहां के सुभूमिभाग उद्यान में उन्होंने मुमुक्षुओं को धर्मामृत पान कराया तथा कोटिवर्ष के राजा चिलाति को जिनदीक्षा दी थी। उनके नवम गणधर अचलभव का जन्म भी अयोध्या में ही हुआ था।

महावीर निर्माण के लगभग एक सौ वर्ष पश्चात मगधनरेश नन्दिवर्धन ने इस नगर में मणिपर्वत नामक उत्तुंग जैन स्तूप बनवाया था, जिसकी स्थिति वर्तमान मणिपर्वत टीला सूचित करता है। मौर्या सम्राट सम्प्रति और वीर विक्रमादित्य ने इस क्षेत्र के पुराने चैत्य एवं मंदिरों का जीर्णोद्धार एवं नवीनों का निर्माण कराया था। गुजरात नरेश कुमार पाल चौलुक्य (सोलंकी) ने भी यहां जिनमंदिर बनवाये बताये जाते हैं। दसवीं-ग्यारहवी शती ई0 में यहां जैन धर्मावलंबी श्रीवास्तव कायस्थ राजाओं का शासन था, जिन्होने सैयद सालार मसूद गाजी को (जो अवघ प्रान्त पर आक्रमण करने वाला संभवता सर्व प्रथम मुसलमान था) वीरता पूर्वक लड़कर खदेड़ भगाया था। सन् 1194 ई0 के लगभग दिल्ली विजेता मुहम्मद गोरी के भाई मखदूमशाह जूरन गोरी ने अयोध्या पर आक्रमण किया और ऋषभदेव जन्मस्थान के विशाल जिनमंदिर को ध्वस्त करके उसके स्थान पर मस्जिद बना दी, किन्तु स्वयं भी युद्ध में मारा गया और उसी स्थान पर दफनाया गया जो अब शाहजूरन का टीला कहलाता है। उसी टीले पर, मस्जिद के पीछे की ओर, आदिनाथ का एक छोटा सा जिनमंदिर तो थोड़े समय पश्चात ही पुनः बन गया किन्तु चिरकाल तक उसका चढ़ावा अयोध्या के बकसरिया टोले में रहने वाले शाहजूरन के वंशज ही लेते है।

ऐसी भी किंवदन्ति है कि अवध के बादशाह नसिरूद्दीन हैदर के समय में मणिपर्वत से नंदयुग का एक शिलालेख प्राप्त हुआ था, जो अब अप्राप्त है। मणिपर्वत के दक्षिण दिशा-स्थित एक कृषिक्षेत्र (खेत) से अयोध्या के शुंगकालीन प्रथम शती ई0पू0 के राजा धनदेव का संस्कृत शिलालेख भी मिला है। सम्भवतः इस विषय में एक अभिलेख अयोध्या के रामकथा-संग्रहालय या डॉ0 रा0म0लो0 अवध वि0वि0 फैजाबाद में सुरक्षित है एवं इसी विद्यालय में निंमोही अखाडा अयोध्या से प्राप्त 7वीं सदी की ऋषभदेव की एक सुन्दर प्रतिमा भी संग्रहीत है।सन् 1865 में अयोध्या के निकट प्राचीन सिक्कों का एक दफीना मिला था, जिसमें तीन प्रकार के प्राचीन सिक्के थे, जो स्थानीय नरेशो के प्रतीत होते हैं। दूसरी पहली ई0पू0 के सिक्कों में एक ओर वृषभ या हस्ती, दूसरी तरफ चैत्यवृक्ष, स्वास्तिक, नन्द्यावर्तादि आदि जैन चिन्ह है। तीसरी कोटी के सिक्के दूसरी-चौथी सती ई0वी के स्थानीय मित्र वंशी राजाओं के प्रतीत होते है। ये भी वृषभ नन्दिपादादि प्रतीकों से समाकृत थे। मध्यकाल के प्रायः दसवी सदी से लेकर 19वीं सदी के कई जैन प्रतिमा-लेख, शिलालेख भी उपलब्ध हुये थे। चौथी-पांचवी सदी ई0पू0 नन्दों के बाद अयोध्या इक्ष्वाकुवंशी चन्द्रगुप्त मौर्या के अधिकार में थी। उसी काल के वहां हनुमानगढ़ी के पास खुले क्षेत्र के खुदाई में प्राप्त चौथी सती ईसा पूर्व की जिन केवलिन की मूर्ति (भारत में प्राप्त प्राचीनतक जिन प्रतिमा) एवं सिक्को (2 सदी ई0पू0) पर वृषभ, हाथी के चिन्ह और इक्ष्वाकु राजाओं के नाम में (धनदेव, विशाखदेव) देव शब्द का प्रयोग और वृषभ राज चिन्ह (जो सत्ता परिवर्तन पर भी नही बदलता था) तथा रामकथा संग्रहालय एवं कटरा मंदिर में सुरक्षित दसवीं सदी की ऋषभदेव की प्रतिमाये भी ऋषभदेव की ऐतिहासिकता का समर्थन करते है। सन् 1330 ई0 के लगभग जैनाचार्य जिनप्रभसूरि ने दिल्ली के सुल्तान मुहम्मद बिन तुगलक से फर्मान प्राप्त करके संघ सहित अयोध्या तीर्थ की यात्रा की थी। उन्होंने अपने विविध तीर्थकल्प के अन्तर्गत अयोध्यापुरीकल्प में लिखा है कि उस समय वहां जन्म लेने वाले पांचों तीर्थंकरों के मंदिरों के अतिरिक्त, राजा नाभिराय (ऋषभदेव के पिता) का मंदिर, पार्श्वनाथ की बाड़ी चक्रेश्वरी (ऋषभदेव की यक्षि) की रत्नमयी प्रतिमा, इसके संग ही गोमुख यक्ष की मूर्ति, सीताकुंड, सहस्त्रधारा, स्वर्गद्वार शेष पृष्ठ-29 पर...